

श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त

डॉ. चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह

डॉ० भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

सारांश :

यह शोध श्रीमद्भगवद्गीता के दार्शनिक, नैतिक और आध्यात्मिक पक्षों का समन्वयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। गीता, जो वेदान्त के प्रस्थानत्रयी में प्रमाणभूत ग्रन्थ है, केवल मोक्षमार्ग की चर्चा न कर, लौकिक जीवन में कर्म की अनिवार्यता को भी स्वीकारती है। निष्काम कर्मयोग, गीता की मूल शिक्षा है, जो कर्तव्यपालन को फल आकांक्षा से रहित भाव से करने पर बल देती है। गीता में ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों मार्गों का समन्वय है, - परन्तु कर्मयोग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। यह ग्रन्थ केवल धार्मिक उपदेश नहीं, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्गदर्शन देने वाला दर्शन है। श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेशों में समत्व, योग, स्वधर्म, और लोकसंग्रह जैसे सिद्धांतों की व्याख्या की गई है। यह शोध गीता की नैतिक शिक्षा को व्यापक मानव जीवन के संदर्भ में प्रस्तुत करता है और आधुनिक जीवन की जटिलताओं में भी इसकी प्रासंगिकता को रेखांकित करता है।

Article Publication:

Published online on: 30/12/2024

Corresponding Author:

डॉ. चन्द्रेश्वर प्रसाद सिंह

डॉ० भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

Email: chandreshvarsingh@gmail.com

©Sadanlal Sanwaldas Khanna Mahila Mahavidyalaya



Scan For Paper

प्रमुख शब्द: श्रीमद्भगवद्गीता, निष्काम कर्मयोग, मोक्ष-मार्ग, समन्वयात्मक दृष्टि, तत्त्वदर्शन

वेदान्त में प्रमाणभूत प्रस्थानत्रयी में स्थान रखने वाली श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्त दर्शन का सार कही जाती है। गीता, जो महाभारत की अंगभूत है, भारतवर्ष के संपूर्ण दार्शनिक-धार्मिक साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है। वस्तुतः श्रीमद्भगवद्गीता ही वह ग्रन्थ है, जिसे हिन्दू धर्म का सही मायने में प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। जहाँ गीता की वैचारिक विशेषताएँ उसे हिन्दू धर्म और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ बनाती हैं, वहीं उसकी सरल सजीव शैली ने न केवल उसे समस्त हिन्दुओं का अपितु कुछ सीमा तक संपूर्ण विश्व के साधकों का लोकप्रिय ग्रन्थ बना दिया है। इस प्रकार दो सहस्र वर्षों से महर्षि वेदव्यास की यह कृति भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के लिए पठन, अनुशीलन तथा मनन का प्रशस्यतम साधन बनी हुई है।

श्रीमद्भगवद्गीता का मुख्य प्रयोजन व्यावहारिक उपदेश है, लेकिन साथ ही इसमें तात्त्विक प्रश्नों पर भी पर्याप्त विचार किया गया है। “क्योंकि गीता एक नैतिक समस्या पर विचार करती है, इसलिये समय-समय पर उसका तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों को छू लेना अनिवार्य है; लेकिन ये प्रश्न उसकी नैतिक शिक्षा की पृष्ठभूमि मात्र है। ये गीता के मुख्य उद्देश्य का अंग नहीं समझे जा सकते।”¹ वस्तुतः उसकी पृष्ठभूमि में पाए जाने वाले विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों का रूप धुंधला सा है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न व्याख्याकारों ने अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से गीता की व्याख्या की है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष के लिए गीता में ज्ञान को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। रामानुज तथा निंबार्क का विचार है कि गीता भक्ति को ही सर्वोच्च स्थान देती है। श्री अरविंद, गांधीजी तथा लोकमान्य तिलक का मत है कि गीता में निष्काम कर्म को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और इसे ज्ञान तथा भक्ति की अपेक्षा उपादेय माना गया है। स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने गीता के भिन्न-भिन्न पक्षों को विशेष महत्त्व देकर मानव-जीवन के लिए उसकी उपादेयता सिद्ध की है।

वस्तुतः गीता किसी का धर्मोपदेश नहीं है और न ही कोई परिचर्चा है। वह तो बस दो अभिन्न मित्रों का वार्तालाप है, जिसमें अर्जुन ने अपनी विषम मानसिक परिस्थिति व्यक्त करते हुए, श्रीकृष्ण से उसके समाधान की अपेक्षा की है।

संभवतः गीता एकमात्र ग्रन्थ है, जिसमें मोक्षवाद के साथ-साथ लौकिक कर्ममय जीवन को उचित महत्त्व दिया गया है। यह मानव मात्र के कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण करने तथा विषम परिस्थिति में मनुष्य का मार्गदर्शन करने में समर्थ है। जीवन की ऐसी कोई भी समस्या नहीं है, जिसका समाधान इसमें न हो। यही कारण था कि उन्नीसवीं

व बीसवीं शताब्दी में जब स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों को प्रेरणा की आवश्यकता अनुभव हुई, तो उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता का ही आश्रय लिया।

श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि समन्वयात्मक है। गीता न केवल निर्गुण और सगुण ब्रह्म, ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद का समन्वय प्रस्तुत करती है, वरन् विभिन्न मोक्ष-मार्गों के मध्य समन्वय की स्थापना का प्रयत्न भी करती है।

तत्त्वदर्शन :

गीता के तत्त्वदर्शन पर उपनिषदों की छाप स्पष्ट है। गीता और उपनिषदों में मुख्य भेद यही है कि जहाँ उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप का प्राधान्य है, वहाँ गीता में सगुण ब्रह्म को प्रशस्य ठहराया गया है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को गीता भी मानती है, यथा-‘अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।’ अर्थात् सारी विभक्त वस्तुओं में जो अविभक्त होकर वर्तमान है, उस ब्रह्म का वर्णन और गुणगान करने से गीता नहीं सकुचाती। परन्तु उसका अनुराग सगुण ब्रह्म में ही अधिक है।

गीता में ईश्वर को पुरुषोत्तम कहा गया है और विश्व में व्याप्त होते हुए भी उससे सीमित नहीं बताया गया है। उसके अनुसार ईश्वर ही संसार की सब वस्तुओं का एकमात्र अवलम्बन है। उनमें सब कुछ पिरोया हुआ है (मयि सर्वमिदं प्रोतम्); उन्हीं से सब कुछ प्रवर्तित होता है (मत्तः सर्वं प्रवर्तते)। ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दिखलाकर भगवान ने अर्जुन को अपनी विभूतियों और संसार का स्वयं पर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव भी करा दिया। इस प्रकार गीता ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद और भागवतों के ईश्वरवाद का समन्वय कर दिया।

मोक्ष-मार्ग :

अर्जुन के सामने समस्या यह थी कि वह अपने जीवन के एक संश्लिष्ट अवसर पर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय कैसे करे? युद्ध में असंख्य लोगों की हत्या का कारण बनना उसकी अन्तर्वृत्तियों के विरुद्ध था, इसलिए वह, वर्णधर्म के अनुसार क्षत्रिय के कर्म को निभाने में असमर्थ था। गीताकार ने इस प्रश्न को जीवन के चरम लक्ष्य के बड़े संदर्भ में रखकर विचार किया; जिससे गीता का मुख्य ध्येय बना मोक्ष की साधना।

गीता अपनी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण मोक्ष प्राप्ति के ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग व कर्ममार्ग इन तीनों मार्गों के महत्त्व को स्वीकार करती है। उसने इन तीनों मार्गों की प्रशंसा भी की है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी न किसी रूप में अपने कर्ममार्ग के अन्तर्गत ज्ञान और भक्ति दोनों को समेट लेती है।

गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग है। फलतः यह प्रत्येक मार्ग के साथ कर्मयोग को जोड़ देती है। प्रारंभ में हम अर्जुन को विशण्ण और युद्ध से विमुख देखते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के उपदेश के फलस्वरूप बाद में वह युद्ध के

लिए कृत-संकल्प हो जाता है। अतः कर्म ही गीता के उपदेश का सार है। अन्य शब्दों में गीता के उपदेश का केन्द्र बिन्दु कर्मपरता ही है, जिसे ‘कर्मयोग’ कहा गया है।

श्रेष्ठता की दृष्टि से ज्ञान योग, भक्तियोग तथा निष्काम कर्मयोग की तुलना करते हुए स्वयं श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि -

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥²

‘निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है, भक्ति की अपेक्षा कर्मों के फल की आकांक्षा का त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि फलासक्ति के त्याग से शान्ति प्राप्त होती है।’

उपर्युक्त उद्धरण से भी स्पष्ट है कि गीता में ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग की अपेक्षा कर्म-मार्ग को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए महात्मा गांधी ने अनासक्ति-योग में तथा लोकमान्य तिलक ने ‘श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य’ में सविस्तार अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि गीता में श्रीकृष्ण ने ‘निष्काम कर्मयोग’ को ही मोक्ष-प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय माना है और उनका मुख्य उद्देश्य अर्जुन को निष्काम कर्म की शिक्षा देना ही था।

गीता में योग की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। यथा-‘समत्वं योग उच्यते’ अर्थात् समत्व का ही नाम योग है। इस प्रकार सिद्धि और असिद्धि दोनों में समबुद्धि रखने को योग कहते हैं। योग का एक अन्य लक्षण भी बतलाया गया है कि ‘योगः कर्मसु कौशलम्’ अर्थात् कर्मों में कुशलता को योग कहते हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि पाप-पुण्य से अलिप्त रह कर कर्म करने की जो समत्व-बुद्धिरूप विशेष युक्ति पहले बतलाई गई है, वही ‘कौशल’ है और इसी कुशलता अर्थात् युक्ति से कर्म करने को ‘गीता’ में ‘योग’ कहा गया है। वैसे गीता के ‘योग’ शब्द का सामान्य अर्थ ‘अपने को लगाना’ या जोड़ना है। “इस प्रकार ‘कर्मयोग’ का अर्थ हुआ अपने को सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में लगाना या सामाजिक कर्तव्यों के पालन में निष्ठा।”³ और फलाकांक्षा न रखकर कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने का नाम ही ‘निष्काम कर्मयोग’ है। इसका एक अर्थ यह हुआ कि हमें एक व्यवस्थित समाज के सदस्य के नाते अपने पूर्व निर्धारित कर्तव्यों में लगे रहना चाहिए और ऐसा करते हुए अपने मन से उनसे व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने का विचार पूर्णतया निकाल देना चाहिए।

यह तो स्पष्ट ही है कि इच्छापूर्वक किए हुए सभी कामों (ऐच्छिक कर्मों) की एक विशेषता यह होती है कि वे किसी फल की प्राप्ति की कामना से किए जाते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में अर्जुन अपने पैतृक साम्राज्य को वापिस लाने की इच्छा रखता है, जो परिस्थितिवश दुर्योधन व उसके भाइयों के हाथ में चला गया है, और इस हेतु वह युद्ध करना

चाहता है। परन्तु यह कर्म के प्रति विशुद्ध निष्ठा नहीं होगी। यह तो कर्म के फल के प्रति निष्ठा है, क्योंकि यहाँ कर्म अर्थात् युद्ध, एक पूर्व निश्चित साध्य का साधन मात्र है। कर्मयोग के लिए तो कर्म को मात्र साधन के रूप में नहीं, वरन् साध्य के रूप में देखना होगा। अर्थात् कर्म करने से पहले तथा उसे करते समय भी उससे प्राप्त होने वाले फल के विचार को मन से पूर्णतया दूर रखना होगा।

गीता का प्रमुख उद्देश्य मोहासक्त एवं कर्तव्यपथ से विचलित अर्जुन को, क्षात्र धर्म के अनुसार अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध-संबंधी अपने कठोर कर्तव्य में निष्ठापूर्वक प्रवृत्त कराना ही है। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर सभी परिस्थितियों में अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे “निष्काम कर्म” करने की शिक्षा दी। और ऐसा करके अर्जुन की उस आशंका को दूर करने का प्रयास किया है, जो उसके मन में युद्ध के विनाशकारी परिणामों के विचार से उत्पन्न हो गयी थी।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट निर्देश दिया है कि “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥”⁴ अर्थात् कर्म में ही तुम्हारा अधिकार हो, फल में कभी नहीं, तुम कर्मफल का हेतु मत बनो, अकर्मण्यता में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।

इस श्लोक के चारों चरण इतने महत्वपूर्ण हैं कि बाल गंगाधर तिलक के अनुसार ‘ये चारों चरण कर्मयोग की चतुःसूत्री है।’⁵ वस्तुतः ये चारों चरण एक - दूसरे के अर्थ के पूरक हैं। यह पहले कह दिया गया है कि ‘कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है’ परन्तु इस पर यह शंका होती है, कि कर्म का फल कर्म से ही संयुक्त होने के कारण ‘जिसका पेड़, उसी का फल’, इस न्याय से जो कर्म करने का अधिकारी है, वही फल का भी अधिकारी होगा। अतएव इस शंका को दूर करने के लिए दूसरे चरण में स्पष्ट कह दिया है, कि ‘फल में तेरा अधिकार नहीं है।’ इससे निष्पन्न होने वाला तीसरा यह सिद्धान्त बतलाया है कि ‘मन में फलाषा रखकर कर्म करने वाला मत हो’। परन्तु कर्म और उसका फल दोनों संलग्न होते हैं, इस कारण यदि कोई ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादन करने लगे, कि फलाषा के साथ ही साथ कर्म को भी छोड़ देना चाहिए, तो इसे भी सच न मानने के लिए अन्त में स्पष्ट उपदेश किया है, कि फलाषा को तो छोड़ दे, पर इसके साथ ही ‘कर्म न करने का अर्थात् कर्म छोड़ने का आग्रह न कर’।

गीता का कर्मयोग ‘नैष्कर्म्य’ (कर्म-निषेध) नहीं अपितु ‘निष्काम कर्म’ (कामना रहित कर्म, कामना निषेध) है। वासना, कामना, आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म के विष-दन्त हैं, जो कर्ता को बंधन में डालते हैं। विष-दन्त को निकाल देने पर कर्म में बांधने की शक्ति नहीं रह जाती। कामना सदा ही मन में भ्रान्ति और संकल्प में संकीर्णता लाती है। कामना और उसके सहचारी राग और द्वेष पाप तथा प्रमाद का मूल बीज है।” कामना के रहते कोई ध्रुव निष्कलुश

शान्ति एवं स्थिर ज्योति नहीं प्राप्त हो सकती। कामना को चाहे किसी भी वेश में क्या न रहने दिया जाये, वह बड़े से बड़े ज्ञानी के लिए भी एक सतत भय का कारण होती है और किसी भी क्षण वह सूक्ष्म या उग्र रूप में मन को उसकी दृढ़तम एवं निश्चिततम उपलब्ध भूमिका से भी नीचे ढकेल सकती है। अतः कामना का निषेध आवश्यक है।⁶

वस्तुतः गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति के आदर्शों की अच्छाइयों को बनाए रखते हुए, दोनों के बीच का स्वर्णिम मार्ग खोज निकालना है। 'निष्काम कर्मयोग' ही यह मध्यम मार्ग है। यह कर्म का त्याग नहीं करता और साथ ही त्याग की भावना को भी सुरक्षित करता है। इसमें मनुष्य को स्वधर्म पालन के लिए सभी आवश्यक कर्म करते हुए उनसे प्राप्त होने वाले फल की इच्छा का त्याग करने का उपदेश दिया है। यह कर्मशील जीवन का अनुमोदन करता है, लेकिन स्वार्थपरक आवेगों को आने नहीं देता। इस प्रकार यह दोनों में से किसी भी आदर्श का बहिष्कार नहीं करता, बल्कि दोनों को संयुक्त करके उनमें परिष्कार कर देता है तथा दोनों का स्तर ऊँचा उठा देता है। आत्मा की वह विशेष अभिवृत्ति इसमें भी बनी रहती है, जो त्याग में पाई जाती है। अन्तर केवल इतना सा है वह कर्म को तिर्यक् दृष्टि से देखना छोड़ देती है। दूसरे शब्दों में, गीता का उपदेश कर्म का त्याग नहीं कराता, वरन् कर्म में त्याग सिखाता है।

गीता के अनुसार मुक्ति के लिए कर्म-त्याग या फिर सांख्य के कथनानुसार कर्म-संन्यास-रूप वैराग्य की आवश्यकता नहीं है। एक तो कर्म कभी छूटते ही नहीं है और दूसरे, उनको छोड़ना चाहिए भी नहीं। मनुष्य के लिए कर्मत्याग अनावश्यक ही नहीं, अपितु असंभव भी है। गीता का यह निश्चित मत है कि देहधारी प्राणी के लिए कर्मों का सर्वथा त्याग संभव नहीं है। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है यथा -

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कार्यते ह्यवषः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥⁷

“क्षणभर के लिए भी कोई कर्म किए बिना नहीं रह सकता।” प्रकृति के सत्त्वरजस्तमोगुण सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं। यह समस्त लोक कर्म से बंधा है। मनुष्यों की तो बिसात ही क्या, सूर्य-चन्द्र प्रभृति भी निरन्तर कर्म ही करते रहते हैं। कर्म ही सृष्टि और सृष्टि ही कर्म है, इसीलिये हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सृष्टि की घटनाओं को (अथवा कर्म को) क्षण भर के लिए भी विश्राम नहीं मिलता।

इस संबंध में गीता की पहली मान्यता यह है कि मनुष्य अपने जीवन में एक क्षण के लिए भी पूर्णतः निष्क्रिय नहीं रह सकता, क्योंकि शरीर का अस्तित्व बनाए रखने के लिए किसी न किसी प्रकार का कर्म करना अनिवार्य है। कर्म किए बिना जीवन-रक्षा या शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि -

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८

“कर्म छोड़ने से खाने को भी न मिलेगा।” दूसरे, यदि सब कर्म करना छोड़ दें तो सृष्टि-चक्र का चलना बन्द हो जाये। इसके साथ ही कतिपय कर्मों का त्याग न करने के पक्ष में गीता ने तीसरा हेतु यह भी दिया है कि -

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥⁹

“यज्ञ, दान और तप से संबद्ध कर्म विद्वानों को पवित्र करने वाले होते हैं। गीता के अनुसार ये कर्म सदैव करणीय हैं।” यद्यपि इन कर्मों को भी बिना आसक्ति रखे, फलों का त्याग करके ही करना चाहिए।

तिलक भी इस संबंध में ‘गीता रहस्य’ में लिखते हैं कि बरसाती छाते की परीक्षा जिस प्रकार पानी में ही होती है, उसी प्रकार- ‘विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः’ अर्थात् जिन कारणों से विकार उत्पन्न होता है, वे कारण अथवा विशय दृष्टि के आगे रहने पर भी, जिनका अन्तःकरण मोह के पंजे में नहीं फँसता, वे ही पुरुष धैर्यशाली कहे जाते हैं (कुमार-संभव 1-59)- कालिदास के इस व्यापक न्याय से, कर्मों के द्वारा ही मनोनिग्रह की जाँच हुआ करती है। इस दृष्टि से भी यही पुष्ट होता है कि शास्त्र से प्राप्त कर्म करना ही चाहिए।¹⁰

फिर जिस संसार में हम रहते हैं, वह संसार और उसमें हमारा क्षण-भर जीवित रहना भी जब कर्म ही है, तब कर्म छोड़ कर जायें कहाँ? और यदि इस संसार में अर्थात् कर्मभूमि में ही रहना हो, तो कर्म छूटेंगे भी कैसे?

यहाँ तक कि स्वयं भगवान् प्रत्येक युग में भिन्न-भिन्न अवतार लेकर इस मायिक जगत् में साधुओं की रक्षा और

दुष्टों का विनाश रूप कर्म करते आ रहे हैं यथा -

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥¹¹

उन्होंने गीता में कहा भी है कि “यदि मैं ये कर्म न करूँ तो संसार उजड़ कर नष्ट हो जायेगा यथा -

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम्।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥¹²

इससे भी यह स्पष्ट है कि जब स्वयं भगवान जगत के धारणार्थ कर्म करते हैं, तब सामान्य जन का तो क्या कहें। अतः अर्जुन को माध्यम बनाकर भगवान श्रीकृष्ण सभी को उपदेश करते हैं कि जब इस जगत में कर्म किसी के छूट नहीं सकते, तब कर्मों की बाधा से बचने के लिए मनुष्य अपने धर्मानुसार प्राप्त कर्तव्य को फलाषा त्यागकर अर्थात् निष्काम बुद्धि से करता रहे-यही मनुष्य के अधिकार में है और यही उत्तम भी है।

इस संबंध में एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिना फलेच्छा के कोई कर्म नहीं किया जाता। बिना किसी प्रयोजन के तो मन्द पुरुष भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सही हो सकता है, परन्तु गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी के लिए है, साधारण जन के लिए नहीं।

गीता भारतीय विचारकों के इस मूल सिद्धान्त को मानती है कि कर्मों के फल से छुटकारा पाये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। लेकिन कर्मफल से छुटकारा किस प्रकार मिले, इस विषय में गीता का अपना मत है। उसके अनुसार कर्मफल से छूटने के लिए कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान मार्ग के अवलम्बन से कर्मफल से मुक्ति मिल जाती है। इस संबंध में ज्ञानमार्ग और ज्ञानियों की प्रशंसा गीता ने मुक्त कण्ठ से की है। ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता-सूँघता-खाता हुआ, साँस लेता हुआ और सोता हुआ हमेशा यह समझता है (या समझे) कि मैं कुछ नहीं करता; प्रकृति के तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं। यद्यपि ऐसे निःस्पृह ज्ञानी को भी गीता के मत में, कर्मत्याग करने का अधिकार नहीं है। भगवान कृष्ण कहते हैं कि स्वयं उन्हें संसार में कुछ करना शेष नहीं है, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है, तो भी वे लोगों के सामने उदाहरण रखने के लिए लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हैं। वे अर्जुन से भी जीवन्मुक्त के कर्म, सिद्ध पुरुष के कर्म की अपेक्षा रखते हैं। वे अर्जुन को स्पष्ट निर्देश देते हैं कि सब के परम मंगल के लिए कर्म करो, जगत की प्रगति को जारी रखने के लिए कर्म करो, लोगो की सहायता या मार्गदर्शन के लिए, लोक-संग्रह के लिए कर्म करो।

वस्तुतः ज्ञानमार्ग के अनुसार सब कुछ करते हुए भी साधक अपने को अकर्ता माने, यह समझे कि कर्म के वास्तविक निर्धारक प्रकृति के तीन गुण हैं। अर्थात् वह अपने कर्मों को अपना समझना छोड़ दे और समझे कि कर्म का कर्ता वह नहीं है, कर्त्री प्रकृति है, त्रिगुणमयी शक्ति ही उसके द्वारा कर्म करती है। ‘कर्मण्येवाधिकारः’ की भावना

भी तभी तक के लिये है, जब तक हम इस भ्रम में हैं कि हम कर्मों के कर्ता हैं। जैसे ही हमें अपनी चेतना के अन्दर यह अनुभव होता है कि हम अपने कर्मों के कर्ता नहीं हैं वैसे ही कर्मफलाधिकार के समान ही कर्माधिकार भी मन एवं बुद्धि से तिरोहित हो जाता है। तब कर्म विषयक सारे अहंकार, फलाधिकार के संबंध में हो या कर्माधिकार के संबंध में, समाप्त हो जाते हैं।

इस संबंध में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हें केवल फल के प्रति ही अनासक्त नहीं होना होगा, अपितु अपने श्रम के प्रति भी अनासक्त बनना होगा। अपने कर्मों को अपना समझना छोड़ना होगा, यह बात समझनी होगी कि तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हारा कर्म निर्धारित करती है। जैसे तुमने कर्म-फल उत्सर्ग कर दिया है, वैसे ही तुम्हें कर्म भी ईश्वर को समर्पित करना होगा।

यहाँ यह स्पष्ट है कि गीता ने एक ओर कर्मयोग को ज्ञानमार्ग से जोड़ने का प्रयास किया और दूसरी ओर भक्तिमार्ग से। उसका निष्काम कर्म ज्ञान और भक्ति दोनों से अनुप्राणित है। गीता के मतानुसार प्रारंभ में यदि कर्म के लिए कामना आवश्यक ही हो, तो समस्त लौकिक कामनाओं का त्याग करके साधक को केवल आध्यात्मिक उन्नति की कामना से कर्म करने चाहिए। गीता में वर्णित है कि -

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥¹³

“भगवत्तत्प्राप्ति के लिए भगवदर्पण-बुद्धि से कर्म करने से आध्यात्मिक उन्नति होती है और कर्मों के द्वारा बंधन भी नहीं होता, यथा पद्म पत्र जल में लिप्त नहीं होता।”

“हमें अपने कर्तव्य कर्म करते हुए उनका फल भगवान को अर्पित कर देना चाहिए। कर्मों का ऐसा अनुष्ठान एक प्रकार की भगवान की पूजा है।”¹⁴ हमें अपनी सत्ता और प्रकृति के स्वधर्म के द्वारा निर्धारित कर्मों को भगवान की भेंट चढ़ाना चाहिए। क्योंकि, सृष्टि की समस्त गति तथा कर्म की समस्त प्रवृत्ति भगवान् से ही उत्पन्न होती है और उन्हीं ने यह सम्पूर्ण जगत विस्तारित किया है। लोकसंग्रह के लिए, लोकों को संगठित रखने के लिए, वे स्वभाव के द्वारा समस्त कर्म का परिचालन और गठन करते हैं। “हमें इन्हीं प्रभु के लिए जो हमारे कर्मों के अधीश्वर हैं, यज्ञ के तौर पर कर्म करने होंगे। लोकसंरक्षण और लोकसंग्रह के लिए हमारे द्वारा होने वाली उन्हीं की क्रिया के तौर पर कर्म करने होंगे।”¹⁵ ऐसा करने से अपने-अपने कर्मों में लगा हुआ मनुष्य भी सिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है। इसी में कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का समन्वय है।

यह तो स्पष्ट ही है कि कर्म के साथ जुड़ी हुई भक्ति-भावना साधक के जीवन को अधिक रसमय और रोचक बना देती है। फलाकांक्षा से रहित कर्म का जीवन कुछ लोगों को नीरस प्रतीत हो सकता है (जर्मन दार्शनिक कान्ट ने भी 'कर्तव्य कर्तव्य के लिये' का उपदेश दिया था); वैसा जीवन कुछ सीमा तक निरुद्देश्य भी जान पड़ सकता है। संभवतः उस तरह का जीवन व्यतीत करना मनुष्य की पुरुषार्थ-भावना के विपरीत है। ऐसे में "मनुष्य या तो यह समझकर निष्काम-भाव से कर्तव्य-कर्म करे कि वह मनुष्य जाति के इतिहास को आगे बढ़ा रहा है, या फिर इस भावना से कि वह भगवान को प्रसन्न करने के लिए कर्म कर रहा है। पहला विकल्प मानववादियों का है, जो ईश्वर और परलोक को नहीं मानते; दूसरा विकल्प ईश्वर-भक्तों के लिये है। गीता इसी द्वितीय विकल्प की शिक्षा देती है।"¹⁶

वस्तुतः गीता हमारे आवेगों के बौद्धिकीकरण मात्र से सन्तुष्ट न रहकर उनका आध्यात्मिकीकरण चाहती है। वह बताती है कि सांसारिक फलों की प्राप्ति का विचार मन में लाए बिना आजीवन कर्म करते रहने से उस आन्तरिक जीवन के स्रोत मुक्त होकर फूट पड़ते हैं, जिसका विकास मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य है। इस संबंध में एम. हिरियन्ना के ये विचार सही प्रतीत होते हैं कि "कर्मयोग निष्काम केवल वहीं तक है, जहां तक वह हमारे चित्त को सांसारिक फलों से विरत करके सच्चे लक्ष्य के मार्ग पर लगा देता है। उसके निष्काम होने का अर्थ यह नहीं है कि उनका कोई लक्ष्य है ही नहीं। वह अभिप्रेरकों से बिल्कुल शून्य नहीं है; केवल इतनी बात है कि हम चाहे जो कर्म करें, उसका एकमात्र अभिप्रेरक हमारे आध्यात्मिक स्वरूप की उन्नति हो।"¹⁷

संदर्भ

- हिरियन्ना, एम. : 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' पृ.21
- श्रीमद्भगवद्गीता : 12/12
- हिरियन्ना, एम. : 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' पृ.119
- श्रीमद्भगवद्गीता : 2/47
- तिलक, गंगाधर : 'गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र,' पृ. 637
- अरविन्द : श्एसेज ऑन दि गीताश्ए पृ.616
- श्रीमद्भगवद्गीता : 3/5

- श्रीमद्भगवद्गीता : 3/8
- श्रीमद्भगवद्गीता : 18/5
- तिलक, गंगाधर : ‘गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र’,पृ.319
- श्रीमद्भगवद्गीता : 4/8
- श्रीमद्भगवद्गीता : 3/24
- श्रीमद्भगवद्गीता : 5/10
- श्रीमद्भगवद्गीता : 18/46
- अरविन्द : श्एसेज ऑन दि गीताश्ए पृ.240
- देवराज, नन्दकिषोर : ‘भारतीय दर्शन ‘ , पृ.104
- हिरियन्ना, एम. : ‘भारतीय दर्शन की रूपरेखा,’ पृ.126